

सुष्मिता बैनर्जी एक ऐसी शिक्षिका थीं जिन्हें किसी संस्थागत या पेशेगत दायरे में नहीं बांधा जा सकता। उन्होंने बच्चों और बड़ों सभी के साथ सीखने-सिखाने का खूब काम किया और जिसके भी साथ उन्होंने काम किया उसे अपनी शैक्षिक सामर्थ्य ही नहीं अपने स्वभाव के खुलेपन और स्नेह के कारण भी अटूट बंधन में बांध लिया। वाकई सुष्मिता जैसे लोग किस्से-कहानियों में ही मिलते हैं...



हमारी सुष्मिता

सुष्मिता जी जैसे लोग अक्सर किस्से-कहानियों में ही मिलते हैं। शिक्षा में मेरा जो किंचित दखल बना और जिसके लिए मैंने कुछ लोगों से सीखा, उसमें सुष्मिता जी का हिस्सा बहुत बड़ा है। वे कहा करती थीं कि सिखाने का सबसे अच्छा तरीका वह है जिसमें सीखने वाले को लगता नहीं कि उसे कुछ सिखाया जा रहा है। हम बहुत सहजता से उनके साथ काम करते और सीखते जाते थे। यह कोई शिक्षण या प्रशिक्षण नहीं था।

मेरी उनसे पहली मुलाकात 'बोध' में हुई थी जिसे सुष्मिता जी तो भूल गई थीं लेकिन मैं नहीं भूला। फिर जब मैं विकास अध्ययन संस्थान में काम करने लगा और सुष्मिता जी लोक जुम्बिश के लिए 'संप्लव' निकाल रही थीं, तब उनसे नियमित सम्पर्क-संवाद शुरू हुआ। हमारे मित्र हितेन्द्र 'संप्लव' में उनके संपादन सहयोगी थे। पत्रिका का नया अंक लोक जुम्बिश के बाद हमें ही मिलता था। मुझे याद है, 'संप्लव' का पहला अंक मुझे बहुत अटपटा लगा था। मैंने अपनी प्रतिक्रिया उन्हें बता भी दी। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ मुझे 'संप्लव' की संकल्पना के बारे में बताया। मेरा इस पत्रिका को देखने का नजरिया बदल गया। यह एक ऐसी पत्रिका थी जिसकी यात्रा अनवरत रूप से अपनी

राजाराम भादू

द्विमासिक 'संस्कृति मीमांसा' के संपादक, स्वयंसेवी संगठन 'सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च' के कार्यकारी निदेशक (मानद)।

मूल संकल्पना की ओर थी- नवोन्वेषी और विकासमान। संभवतः इसके तीन साल पूरे होने पर उन्होंने लोक जुम्बिश के लिए कुछ लोगों से 'संप्लव' की समीक्षा कराई थी। मेरे अलावा अशोक शास्त्री ने विस्तृत समीक्षा की थी। निश्चय ही वे लुप्त हो चुकी होंगी। लोक जुम्बिश का सरकारीकरण होने के बाद 'संप्लव' का सारा रिकॉर्ड व पत्राचार उन्होंने इसके मुख्यालय भिजवा दिया था।

शिक्षा पर शोध के क्रम में पता नहीं ऐसी पत्रिकाओं पर काम क्यों नहीं कराया जाता। 'संप्लव' एक ऐसी पत्रिका थी जिसमें शिक्षाविद्, शिक्षक, बच्चों और समुदाय सबका सहभाग था। इसमें प्रेक्टिशनर्स को काफी अहमियत दी गई थी। कई बार लगता है कि कुछ काम कुछ खास लोगों के कारण ही संभव होते हैं। 'संप्लव' सुष्मिता ही निकाल सकती थीं। उनका क्षेत्र बहुत व्यापक था जिसमें शिक्षा जगत के तमाम पक्षों से संबद्ध लोगों तक उनकी पहुंच थी। उन सबकी अभिव्यक्ति का मंच 'संप्लव' था जिससे यह पत्रिका एक खूबसूरत कोलाज लगती थी। यह हिन्दी की चंद अन्तर्क्रियात्मक पत्रिकाओं में से थी जहां विचारों और अनुभवों का साझा करके और संवाद द्वारा परस्पर सीखा जा सकता था।

पिछले दो-तीन दशकों से यह कहा जा रहा है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं के केन्द्र में बच्चा होना चाहिए। लेकिन जब बच्चों के साथ व्यावहारिक काम किया जाता है तो प्रायः बच्चों को लेकर बनी रूढ़-छवियों को सामान्यीकृत करके लागू कर दिया जाता है। 'संप्लव' ने बिना किसी उत्तेजक अकादमिक बहस के ऐसी रूढ़-छवियों को तोड़ने का काम किया। इसने बच्चों को लेकर पाए जाने वाले रूमानी धुंधलके को भी छितरा दिया। सीधे-सीधे कहा जाए तो 'संप्लव' ने बच्चों के प्रति व्यापक संवेदनशील दृष्टिकोण और परिप्रेक्ष्य विकसित किया।

सुष्मिता का लिखा संपादकीय शायद ही कभी पूरे एक पृष्ठ का होता हो। 'संप्लव' में एक कहानी छपती थी -- सामान्यतः हिन्दी की क्लासिक कहानी या हिन्दी में अनूदित महत्वपूर्ण कहानी -- जिसके केन्द्र में बच्चा होता था। सुष्मिता के संपादकीय का ज्यादातर हिस्सा अंक में छपने वाली इस कहानी के बारे में होता था। कहानी की एक ऐसी पुनर्व्याख्या बल्कि कहें प्रत्याख्यान जो उसके नए ही अर्थ उद्घाटित करता था। ऐसे अर्थ जो बच्चे की दुनिया के रहस्य, अनुभवों और स्वप्नों को समझने में हमारी मदद करते थे। इन व्याख्याओं में निहित अन्तर्दृष्टि से हम बच्चों और उनकी विकास प्रक्रियाओं के प्रति सुष्मिता के नजरिए से साक्षात्कार कर सकते हैं।

हम कुछ लोग 'संप्लव' के लिए ऐसी कहानियों की खोज में लगे रहते थे। यह खोज जिस तरह मुश्किल होती जा रही थी, वह हमें एक और चिंता की ओर ले गई। बच्चों के लिए बेहतर साहित्य की कमी के संकट से तो हम सभी वाकिफ हैं। इसी चिंता को ध्यान में रखकर सुष्मिता जी ने बाल साहित्य पर कार्यशालाओं की योजना बनाई। 'संप्लव' द्वारा एक निश्चित अंतराल के बाद आयोजित इन दो कार्यशालाओं में बाल साहित्य के लगभग सभी पक्षों पर विस्तार से चर्चा की गई। इन कार्यशालाओं में राजस्थान के अधिकांश रचनाकारों ने सक्रिय भागीदारी की। बाद वाली कार्यशाला में रचनाकारों ने बच्चों से जुड़ी अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं। एक-एक रचना को लेकर विस्तार से चर्चा की गई। ये रचनाएं 'संप्लव' के आगामी अंकों में जगह पाती रहीं। इसकी एक परिणति यह हुई कि 'संप्लव' और सुष्मिता का जुड़ाव प्रदेश के रचनाकारों और संस्कृतिकर्मियों से सदैव के लिए बन गया। ऐसा नहीं था कि सुष्मिता के संपर्क क्षेत्र में लेखक-कलाकार पहले नहीं थे। उनकी मित्र-मंडली बहुत समृद्ध और वैविध्यपूर्ण थी। कह सकते हैं कि यह और विस्तृत हो गया।

इस कार्यशाला में लेखकों, चित्रकारों, रंगकर्मियों के साथ शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोगों ने भी भाग लिया था। सामूहिक अन्तर्क्रिया सभी सहभागियों को परस्पर समृद्ध करने वाली साबित हुई। शिक्षा में नवाचारों और प्रयोगों को कलात्मक रूप से और अधिक समृद्ध करने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। इस संवाद में बाल-साहित्य को लेकर चली आ रही कई भ्रान्त धारणाओं और रूढ़ियों पर भी सवाल उठे। इन कार्यशालाओं के माध्यम से बच्चे की दुनिया को समझने और तदनु रूप उनके लिए रचने के सवालों और चुनौतियों पर एक जीवंत विमर्श का सूत्रपात हुआ।

सुष्मिता जी की अपनी रुचियों का परास भी बहुत बड़ा था। सौंदर्य बोध उनके लिए प्रदर्शन का नहीं बल्कि जीवन जीने का प्रेरक तत्व था। उन्होंने बच्चों के लिए नाटक तैयार कराने का काम हाथ में लिया। बरकत नगर के एक मकान के बड़े से दालान में नाटक की रिहर्सल शुरू हुई। यहां बता दें कि बरकत नगर बाहरी जयपुर की टेढ़ी-मेढ़ी अनियोजित गलियों में बसी एक बस्ती है जिसमें सुष्मिता जी खुद भी रहती थीं। उनके घर के पास ही 'संप्लव' का कार्यालय हुआ करता था जो विभिन्न योजनाओं और कार्यकलापों का लम्बे समय तक केन्द्र बना रहा। एक समय यहां संघर्ष के दौर से गुजर रहे पत्रकार, शिक्षाकर्मी, चित्रकार और लेखक रहा करते थे। मेरे लिए रिहर्सल के शुरुआती दिन अचरज और रोमांच से भरे थे बल्कि अभिनेता भी यही अनुभव कर रहे थे। यह कोई मंचीय कलाकार नहीं थे। एकाध को छोड़कर सभी पहली बार अभिनय में उतरे थे। कोई जूता बना था, कोई कबूतर तो कोई पेड़। सुष्मिता जी पहले उन्हें निर्देशित करतीं, उनके साथ कभी हंसने लगतीं तो उन्हें कभी गंभीरता की ओर ले जातीं। रिहर्सल के बाद चाय गोष्ठी में समूह के विचित्र किन्तु स्फूर्त अनुभवों का विश्लेषण होता। बच्चे के बोध के तरीके, कल्पनाशीलता और अनुभव करने की क्षमता प्रायः इस विश्लेषण के फ्रेमवर्क में हुआ करते थे।

रिहर्सल आगे बढ़ता गया और वहां जुटने वाले बच्चों की तादाद बढ़ती गई। इन दर्शक बच्चों की प्रतिक्रियाएं बाल रंगमंच की उन अवधारणाओं को प्रमाणित करतीं जो उन प्रस्तुतियों के पीछे काम कर रही थीं। इस नाट्य अनुभव से मिली सीख बच्चों के संदर्भ में किए जाने वाले सृजन से अलहदा नहीं थी। एक बात साफ थी कि बच्चों से जुड़े सृजन में बचपन महत्वपूर्ण है लेकिन वहां बचकानेपन के लिए कोई जगह नहीं है। बच्चे नाट्य भाषा, मुहावरे और प्रतीकों को समझने में सक्षम होते हैं और वे मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण होते हैं। बच्चे अपनी आसपास की दुनिया को एक समग्र जैविक संसार के रूप में देखते हैं। वहां यथार्थ और कल्पना मिल-जुल सकते हैं और निर्जीव चीजें भी बातें कर सकती हैं।

सुष्मिता की रुचि के क्षेत्र में शोध एक ऐसा क्षेत्र था जो उन्हें उत्साह से भर देता था। वैसे तो शायद ही कोई ऐसा कार्य होता था जिसे वे मन से नहीं करतीं हों। उन्होंने अपनी ही तरह काम किए, कामों का अपनी प्रतिबद्धता और पसंद से चयन किया और जिन कार्यों से जुड़ीं उन्हें उनकी तार्किक परिणति तक पहुंचाया। मुझे लगता है कि उनके द्वारा चुने गए हर अगले काम में पिछले कामों के अनुभव और उनसे जुड़े व्यक्तियों का योगदान जुड़ता चला जाता था। उनके साथ के शोध के जिस काम से मुझे जुड़ने का अवसर मिला, वह काफी चुनौतीपूर्ण और नया था।

बोध ने राजस्थान सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा संचालित जयपुर के दस सरकारी स्कूलों में काम करना शुरू किया था। इससे पहले बोध इन स्कूलों का आधार रेखा अध्ययन करना चाहता था। इस अध्ययन के अन्तर्गत बच्चों की विषयगत क्षमताओं का आकलन करना तो आसान था। लेकिन बोध का नवाचार सिर्फ विषय शिक्षण तक ही सीमित नहीं होना था। बच्चों के सर्वांगीण विकास को बोध द्वारा संज्ञानात्मक (जिसके अन्तर्गत विषय आधारित ज्ञान आता था) और गैर-संज्ञानात्मक

क्षेत्र (Non cognitive domain) में बांटा। दूसरे यानी, संज्ञानात्मक से इतर क्षेत्र में बच्चे की वैयक्तिक विशेषताएं (attributes), कक्षा शिक्षण की प्रक्रियाएं और स्कूली माहौल जैसी चीजें शामिल थीं।

सुष्मिता के नेतृत्व में यह शोध कार्य संपन्न हुआ जो मेरी जानकारी में समकालीन शैक्षिक परिदृश्य की एक अहम घटना है। यह शोध अध्ययन जिन कुछ कारणों से चुनौतीपूर्ण था उनमें सबसे अहम सवाल तो गैर-संज्ञानात्मक क्षेत्र को शोध समस्या के रूप में स्थापित करना था। सच्चाई तो यह है कि बच्चे के मानस में संज्ञानात्मक और गैर-संज्ञानात्मक जैसा बंटवारा होता नहीं है। वस्तुतः यह तो बच्चे के व्यक्तित्व निर्माण को समझने के लिए किया गया एक अकादमिक विभाजन था। दूसरे, अपनी ध्वनि में यह नकारात्मक प्रतीत होता था जबकि बच्चे के व्यक्तित्व से जुड़ी विशेषताएं, जैसे-आत्मछवि, आत्मविश्वास, पहल, जिज्ञासा, सहयोग भावना, कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता आदि इसी के अन्तर्गत आती थीं। इसी के साथ सरकारी स्कूलों के मौजूदा माहौल में व्याप्त ऊब और भय, बच्चों में पाई जाने वाली हीनता की भावना और सृजनात्मकता के अभाव जैसी बातें इसी संदर्भ में दर्ज की जानी थीं। ऐसा भी प्रस्ताव था कि इसे भावनात्मक क्षेत्र (emotive domain) कहा जाए। किन्तु यह क्षेत्र विवेक से भी ताल्लुक रखता था। संवेदना में भी तो एक तरह की चेतना काम करती है। अतः इसे गैर-संज्ञानात्मक क्षेत्र ही कहा गया।

अगली चुनौती इसे शोध के दायरे में लाने की थी। शिक्षा की गुणवत्ता से जुड़े अनेक पहलू इसलिए उचित अहमियत हासिल नहीं कर पाते क्योंकि ये मापे नहीं जा सकते। इस क्षेत्र के साथ भी यही चुनौती थी। शोध के दायरे में लाने का अर्थ उस प्रविधि से भी था जिसमें तयशुदा संकेतक, मानक और वस्तुगत पद्धतियां इस्तेमाल की जाती हैं। सुष्मिता जी को शुरू से ही विश्वास था कि यह संभव है। इसमें कम से कम अवलोकन तो एक ऐसी प्रविधि है जो प्रयुक्त की जा सकती है।

इन और ऐसी चुनौतियों के मद्देनजर तय किया गया कि इस शोध अध्ययन के लिए एक अवधारणात्मक रूपरेखा तैयार की जाए और इसे तैयार करने में शिक्षा जगत के उन सभी लोगों का सहयोग लिया जाए जो इस तरह की चिंताओं से सरोकार रखते हैं। इस क्रम में दो कार्यशालाएं आयोजित की गईं जिनमें देश के कई ख्यात शिक्षाविद् और शोधकर्ताओं ने भाग लिया। मैंने आरम्भ में इसे एक अहम घटना बताया है, उसे प्रमाणित करने के लिए इन कार्यशालाओं में हुई चर्चा और बहस पर्याप्त है। पूनम बत्रा और गीता नाम्बिसान तो इस शोध में मुख्य परामर्शकार थीं ही और भी करीब दर्जन भर लोग इससे जुड़े रहे। इस अध्ययन की प्रस्तुतियां कई जगह हुईं।

शिक्षा के गैर-संज्ञानात्मक क्षेत्र का अध्ययन दस स्कूलों की आधार रेखा तक ही सीमित नहीं रहा। इसकी अवधारणात्मक रूपरेखा के आधार पर बच्चों में सकारात्मक वैयक्तिक विशेषताएं (attributes) विकसित करने के लिए पाठ्यक्रम निर्माण किया गया। यह शिक्षक प्रशिक्षण में समाविष्ट हुआ और बोध के नवाचार के मूल्यांकन का आधार बना। इस शोध से कक्षा में सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं और बच्चे में आए तद्वर्जित परिवर्तनों को आंकना ही संभव नहीं हुआ बल्कि शिक्षकों की कार्य-संस्कृति और स्कूल की समग्र संस्कृति का आकलन भी इस फ्रेमवर्क में किया जा सकता था।

प्रसंगवश बताना उचित होगा कि मूल्यों की शिक्षा पर फ्रेमवर्क के निर्माण की उस समय काफी चर्चा हुई। मूल्य और नैतिकता के विमर्श में यह राय बनी कि इन्हें पढ़ाया नहीं जा सकता। इनकी सीख कक्षा और स्कूल के माहौल पर निर्भर करती है। शिक्षकों की कार्यशैली और स्कूल की संस्कृति में

जनतांत्रिक मूल्यों -- बराबरी, सहभागिता, प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति आदि की अन्तर्व्याप्ति से मूल्यों की स्थिति पता चलती है।

शोध को लेकर सुष्मिता के अपने विचार थे। उनकी मान्यता थी कि किसी भी तरह का सामाजिक अनुसंधान किसी आइवरी टावर में बैठकर नहीं किया जा सकता। अध्येता को जमीनी यथार्थ से अन्तर्क्रिया करनी ही चाहिए। दूसरे, किसी कथित अकादमिक अर्हता से ज्यादा महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रविधि की सक्षमता, अन्तर्दृष्टि और मुद्दे के प्रति संवेदनशीलता है। हमारी टीम में फील्ड वर्कर पहली बार ऐसा कोई काम कर रहे थे। सुष्मिता ने इस चुनौती भरे काम को अंजाम देकर साबित किया कि शोध को खास तरह की जड़ता से निकालकर इसे सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।

उन्होंने पाठ्यक्रम में लोक साहित्य और नाट्य प्रक्रियाओं को समाविष्ट करने के लिए एक क्रियात्मक अनुसंधान किया। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आखिर में वे नरेगा श्रमिकों -- विशेषकर महिलाओं के लिए साक्षरता पाठ्यक्रम निर्माण पर काम कर रही थीं। उनके शोध कार्यों को लेकर यह कुछ बातें हैं जो मेरी जानकारी में हैं और जिन्हें उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उल्लेखनीय चीजों को देखने का उनका नजरिया है, जिसमें एक शोधकर्ता की अन्तर्दृष्टि और सर्जक की संवेदना विद्यमान थी।

अरुणा राय उनकी अन्तरंग मित्र रहीं। उनके साथ उन्होंने तिलोनिया की रात्रिशालाओं के लिए काम किया। बाद में महिला विकास के अन्तर्गत साधियों के सशक्तिकरण के लिए काफी कुछ किया। अरुणा राय तो बाद में मजदूर किसान शक्ति संगठन में व्यस्त हो गईं लेकिन सुष्मिता रात्रिशालाओं के लिए काम करती रहीं। जब भी उन्हें नया विचार आता, पहले वे फील्ड में जातीं फिर उसे विकसित करतीं। उनका यह तरीका सदा कायम रहा चाहे वे बोध के सरकारी स्कूल हों, तिलोनिया की रात्रिशालाएं अथवा बांसवाड़ा, चित्तौड़ और बारां के आदिवासी क्षेत्र।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उनके अनुभव और रुचियों का क्षेत्र बहुत व्यापक था, इसमें दक्षिण भारत में डेविड ऑसबॉर्न के नीलबाग स्कूल की स्मृतियां और लक्ष्मी कृष्णमूर्ति जैसी दोस्तों के जरिए वहां चलने वाली हलचलें रहीं तो उत्तर भारत में किशोर भारती और एकलव्य के अनुभव और सम्पर्क रहे हैं। राजस्थान में क्रमशः महिला विकास कार्यक्रम, शिक्षाकर्मी परियोजना,

संधान, लोक जुम्बिश जैसे बड़े कार्यक्रमों से उनकी सम्बद्धता रही। वे सदैव नए अनुभव और सीखों को पुरानों से जोड़ती जाती थीं।

सुष्मिता सहजता का पर्याय थीं। वे सब कुछ थीं लेकिन कुछ भी न होने की विनम्रता रखती थीं। इसके कुछ नुकसान भी हुए। उनके वही काम सामने आ पाए हैं जिनका सामने आना किसी अन्य एजेन्सी पर निर्भर था, जैसे 'संप्लव' का छपना और वितरित होना अथवा कुछ शोध अध्ययनों की रपटें। इसके इतर बहुत सारा काम है जो ओझल ही रहा है। बोधि प्रकाशन की पहल पर बच्चों की कहानियों की किताब 'तितली, चिड़िया और तुम' छप गई। रूम टू रीड ने कुछ किताबें छपीं तो 'फूलों की बात' सामने आ गई। उनका काफी कुछ अप्रकाशित है।

ऐसा कैसे होता कि सुष्मिता कविताएं नहीं लिखतीं। वे बहुत अनौपचारिक चर्चा में कोई एकाध कविता सुना देतीं। मुझे दो बार उनकी कविताएं सामने लाने का अवसर मिला। एक बार सांस्कृतिक पाक्षिक 'दिशाबोध' और दूसरी बार 'मीमांसा' के माध्यम से। पाठकों के छपे पत्र इस बात के गवाह हैं कि ये कविताएं किस कदर पसंद की गईं। यदि मुझे कहने की इजाजत दें तो कहना चाहूंगा कि ये अलग मिजाज की दुर्लभ कविताएं हैं जो एक और ही सुष्मिता से हमारा परिचय कराती हैं। वैसे हममें से हरेक के पास अपनी एक सुष्मिता है जो मिलकर हम सबकी बनती है 'हमारी सुष्मिता'। ♦